

दैनिक जागरण

Date:08-03-22

अयं मे हस्तो भगवान

डा. विजय अग्रवाल, (आध्यत्मिक विषयों के लेखक एवं वक्ता)



प्राचीनकाल से ही भारतीय दर्शन ने एक 'ब्रह्म' और 'एक सत्य' का विचार दिया है। यह बात अलग है कि बाद में लोगों ने इस 'एक' की अपने-अपने ढंग से व्याख्या को और अपनी-अपनी व्याख्याओं के अनुकूल उस एक को 'अनेक' नाम दिए। भले ही इसके कारण भारतीय जीवन में 'बहुदेववाद' बहुत ही प्रमुखता के साथ दिखाई देता है, लेकिन उसकी 'वैचारिक आत्मा' हमेशा 'एक' ही रही है।

यह उस ब्रह्म की बात हुई, जिसने इस जगत की रचना की है, लेकिन 'एक' का यह विचार यहीं तक सीमित नहीं रहा। ऋग्वेद के लगभग बाइस सौ साल बाद शंकराचार्य ने अपने अद्वैत दर्शन में 'इस एक से ही अनेक की उत्पत्ति के विचार की आधारशिला रखी। यह एक प्रकार से 'त्वं ब्रह्मास्मि' का ही एक सरल संस्करण था। इससे पहले गीता में भी कृष्ण कह चुके थे कि कोई भी चाहे कहीं भी किसी रूप में मेरी आराधना करें, लेकिन वह पहुंचता अंततः मुझ तक ही है।

यहां हमसे एक छोटी-सी चूक हो जाती है, जो आगे चलकर भ्रमों को जन्म देती है। हम ब्रह्म का अर्थ 'विश्व के निर्माता' मात्र से लगा लेते हैं। वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्वरूप के अस्तित्व में आने के बाद से ब्रह्म की पहचान को सीमित किया गया, अन्यथा ऋग्वेद एवं बाद के उपनिषदों में यह एक ब्रह्म ही 'सब कुछ' है। इस एक में ही सब कुछ समाहित है। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने विराट रूप के दर्शन कराकर इसी सिद्धांत की पुष्टि की थी। आइए, ऋग्वेद को इस ऋचा को देखते हैं :

इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चितिं दक्षस्य सुभगत्वमसे। पोषं रयीणामरिस्टिं तनूनां स्वाद्यानं वाचः सुदिनत्वमइचाम् ॥

अर्थात् 'हे इंद्र देव! हमें श्रेष्ठतम निधियां प्रदान करो। हैं प्रतिभाशाली मस्तिष्क और सौभाग्य प्रदान करो। हमें धन संपत्तियां दो और हमारे शरीरों को स्वास्थ्य दो। हमें मधुर वाणी दो और हमारे दिन अच्छे करो।'

यहां इच्छाएं कई हैं और इन कई इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रार्थना अलग- अलग देवों से न करके केवल एक ही देव इंद्र से की गई है, जो ऋग्वेद काल के सबसे प्रमुख देव रहे हैं।

इतनी सारी बातें कहने के बाद अब आप मुझे यह पूछने की अनुमति दें कि 'क्या आपको उपरोक्त तथ्यों में भारतीय चैतना में स्वावलंबन की भावना कूट-कूटकर भरने की कोशिश महसूस हो रही है?' मेरे इस प्रश्न पर थोड़े धैर्य के साथ विचार करें। उत्तर मिल जाएगा। यह उत्तर आपको स्वयं को समझने में बहुत सहायक होगा, क्योंकि शायद आप पहली बार अपने भिन्न ऊर्जा-स्रोतों को पहचान कर अपने जीवन को शिखर की ओर ले जा सकेंगे।

आप एक ऐसी स्थिति की कल्पना करें, जहां आप अकेले हैं। केवल आप ही हैं। अन्य कोई नहीं है। यदि आपको किसी वस्तु की जरूरत पड़ती है, आपको कोई सहायता चाहिए, आपको भावनात्मक सहारा चाहिए, तो इन सबके लिए आप किसके पास जाएंगे? आप किसको पुकारेंगे? जाहिर है कि किसी को भी नहीं पुकारेंगे, क्योंकि वहां कोई अन्य है ही नहीं। लेकिन यह सही नहीं है कि वहां कोई भी नहीं है। वहां एक व्यक्ति है और वह एक व्यक्ति आप स्वयं हैं अर्थात् यह आपको स्थिति, आपकी नियति का आदेश है कि आपको यदि कुछ करना है, तो आप खुद करें। आपको यदि कुछ पाना है, तो स्वयं प्रयास करें। आप ऐसा कर सकते हैं, क्योंकि आपमें 'ब्रह्म' की सभी क्षमताएँ हैं। आपको किसी की भी जरूरत नहीं है।

जहां किसी अन्य के अवलंबन को कोई संभावना नहीं रह जाती, वहां स्व का अवलंबन ही एकमात्र विकल्प रह जाता है। जब विकल्प 'स्व' ही शेष रहता है, तो इसको स्वाभाविक परिणति इस विचार में होती है कि 'मुझे कम से कम चाहिए।' यह स्थिति अपने आप ही हमारी इच्छाओं को नियंत्रित करने लगती है। क्या यह कम बड़ी बात है, विशेष रूप से वर्तमान के उपभोक्तावाद के भयावह दौर में।

ऋग्वेद ने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि 'अयं मे हस्तो भगवान' यह मेरा हाथ भगवान है। भगवान यानी कि 'सर्वशक्तिमान'। गौतम बुद्ध 'दीघ निकाय' में अपने भिक्षुओं से कहते हैं, 'आत्मदीप और आत्मशरण होकर विहार करो। किसी दूसरे के भरोसे मत रहो।' यहां तक कि ज्ञान प्राप्ति के लिए भी। बुद्ध कई गुरुओं के पास गये। काफी समय लगाया। उन्हें निराशा हाथ लगी। अंततः उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया, वह था स्वयं ही यानी कि गुरु तक के मामले में स्वयं ही स्वयं के गुरु बनो। बुद्ध के जीवन के अंतिम शब्द इसी सत्य को वाणी देते हैं कि 'अप्प दीपो भव' यानी स्वयं ही स्वयं के दीपक बनो।

निश्चित रूप से आपने कभी न कभी किसी न किसी को यह कहते हुए जरूर सुना होगा कि 'अपना हाथ जगनन्नाथ'। आज के इस मुहावरे का मिलान साढ़े तीन हजार साल से भी अधिक पुराने ऋग्वेद के इस वाक्य से करें कि 'अयं मे हस्तो भगवान।' बात वही है।

चलिए, लगे हाथ इसी से जुड़े हुए एक दोहे को देखते हैं, जो जनकवि घाघ द्वारा लगभग छः सौ साल पहले मध्यकाल में रचा गया था। महाकवि घाघ लिखते हैं :

खेती पाती बिनती औं घोड़े को तंग। अपने हाथ संवारिये, लाख लोग हों संग।।

यहां मैं एक बात विशेष रूप से कहना चाहूंगा कि स्वावलंबन को चेतना व्यक्तिवादिता को जन्म नहीं देती। यह केवल अपने बारे में ही सोचने और अपने लिए ही करने को भावना का समर्थन नहीं करती है। 'एकम सत्' कहने वाली चैतना ने इसके साथ ही 'सः गच्छध्वं, सः बदत्वम्' की भी बात कही है। हम साथ-साथ चलें और साथ-साथ बोले, आदि। यहां सामाजिकता का विरोध नहीं है। 'वसुधैव कूटुम्बकम्' वाली संस्कृति कभी भी व्यक्तिवादिता की बात नहीं कर सकती।

वस्तुतः स्वावलंबन की यह चेतना मूलतः इच्छाओं पर नियंत्रण, जीवन की सादगी, कर्म की साधना तथा विचारों को शुचिता से सीधे-सीधे जुड़ी हुई है। यह एकात्मिक भाव न होकर सामूहिक भाव है, जहां एकात्मिकता का अस्तित्व उपस्थित रहता है, वह तिरोहित नहीं होता। इसलिए स्वावलंबन की चेतना से युक्त व्यक्ति समाज में रहते हुए भी अपने जीवन का नियंत्रण स्वयं होता है। उसका नियंत्रण किसी अन्य के हाथ में नहीं होता।

Date:08-03-22

यूक्रेन संकट का समाधान

संपादकीय

यह न केवल चिंताजनक है, बल्कि निराशाजनक भी कि रूस और यूक्रेन में बातचीत का सिलसिला कायम रहने एवं उनकी ओर से युद्धविराम को लेकर सहमति जताने के बाद भी उस पर सही ढंग से अमल नहीं हो रहा है। इसके चलते लड़ाई वाले शहरों में न केवल यूक्रेन के लोग फंसे हुए हैं, बल्कि भारतीयों समेत अन्य अनेक देशों के नागरिक भी। उनके सामने न केवल खाने-पीने का संकट है, बल्कि जान बचाने का भी। सच्चाई जो भी हो, इसमें संदेह नहीं कि वहां तमाम निर्दोष-निहत्थे लोगों की जान खतरे में है। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कहीं-कहीं यूक्रेन के लड़ाके विदेशी नागरिकों को बाहर निकालने में अड़ंगे डाल रहे हैं। शायद इसी कारण भारतीय प्रधानमंत्री को पहले यूक्रेन और फिर रूस के राष्ट्रपति से बात करनी पड़ी। वास्तव में इसकी चिंता रूस और यूक्रेन के साथ-साथ अमेरिका एवं उसके सहयोगी देशों को भी करनी चाहिए कि युद्ध क्षेत्र में फंसे लोग सुरक्षित बाहर निकलें। यह देखना दयनीय है कि ये देश यूक्रेन में हो रही तबाही पर चिंता तो जता रहे हैं, लेकिन इसके लिए कुछ नहीं कर रहे हैं कि वहां युद्धविराम प्रभावी तरीके से लागू हो, ताकि जान-माल की क्षति को रोका जा सके। वे शांति प्रयासों को बल देने के बजाय यूक्रेन को हथियार उपलब्ध कराने में लगे हुए हैं।

क्या यह विचित्र नहीं कि भारत, इजरायल, तुर्की आदि तो युद्धविराम और बातचीत से समस्या समाधान के लिए पहल कर रहे हैं, लेकिन अमेरिका, ब्रिटेन की ओर से ऐसा कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। यह तब है जब यूक्रेन में सैकड़ों लोग मारे जा चुके हैं और करीब 15 लाख लोग वहां से पलायन करने के लिए विवश हुए हैं। इस भीषण मानवीय त्रासदी के बीच इसकी भी अनदेखी नहीं की जा सकती कि अमेरिका और उसके साथी देश रूस की सुरक्षा चिंताओं को समझने के बजाय उसे उकसाने वाले काम करने में लगे हुए हैं। वे भले ही यूक्रेन की सीधी मदद करने से इन्कार कर रहे हों, लेकिन उसे हथियार देकर संघर्ष को भड़काने का ही काम कर रहे हैं। इस पर भी गौर करें कि यूरोपीय देश रूस पर प्रतिबंध भी लगा रहे हैं और उससे तेल एवं गैस की खरीद भी कर रहे हैं। आखिर यह एक किस्म का पाखंड नहीं तो और क्या है? बेहतर हो कि यूक्रेन के राष्ट्रपति को यह समझ आए कि पश्चिमी देश उसे मोहरा बनाए हुए हैं। पश्चिमी देशों के ऐसे रवैये को देखते हुए भारत के लिए यह और आवश्यक हो गया है कि वह अपने कूटनीतिक प्रयासों पर और बल दे।

Date:08-03-22

ऊर्जा संकट से बचने के उपाय

भरत झुनझुनवाला, (लेखक आर्थिक मामलों के जानकार हैं)

यूक्रेन पर रूस के हमले ने हमारे समक्ष ऊर्जा का संकट खड़ा कर दिया है। कुछ समय पहले अंतरराष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल का दाम लगभग 80 डालर प्रति बैरल था। तब देश में पेट्रोल का दाम लगभग 90 रुपये प्रति लीटर था। कुछ विश्लेषकों का मानना है कि यदि यूक्रेन संकट लंबा खिंचा तो कच्चे तेल का दाम 150 डालर प्रति बैरल तक जा सकता है। तब देश में पेट्रोल की दर बढ़कर 130 रुपये प्रति लीटर तक जा सकती है। यह हमारे आर्थिक विकास के लिए दो प्रकार से नुकसानदेह होगा। पहला यह कि तेल के आयात हेतु हमें अधिक मात्रा में डालर अर्जित करने के लिए औने-पौने दाम पर निर्यात करना होगा। दूसरा यह कि आम आदमी को महंगा पेट्रोल खरीदना होगा। ऐसी स्थिति में उसकी अन्य आवश्यक मदों में खपत कम होगी। इसलिए हमें इस ऊर्जा संकट से निपटने के उपाय पर विचार करना चाहिए। इसका एक उपाय है कि हम ऊर्जा के घरेलू स्रोतों का विकास करें। तब हमें आयातित ईंधन पर निर्भर नहीं रहना होगा। इस दिशा में सरकार ने सौर ऊर्जा को बढ़ाने में सफलता हासिल की है। फिर भी एक मोटे आकलन के अनुसार 2050 में हमारी ऊर्जा की खपत में सौर ऊर्जा का हिस्सा सिर्फ 12 प्रतिशत के करीब रहेगा। इसलिए सौर ऊर्जा जरूरी होते हुए भी समाधान नहीं है।

दूसरा उपाय पनबिजली का है, जिसके तमाम पर्यावरणीय दुष्प्रभाव हैं। इसका दायरा बढ़ाने से जितना हमारे नागरिकों के जीवन स्तर में ऊर्जा की खपत बढ़ने से सुधार होगा उससे ज्यादा नुकसान उन्हीं के जीवन स्तर में पर्यावरण की क्षति से होगा। इसके कारण विस्थापन एवं प्राकृतिक आपदाओं की स्थिति उत्पन्न होती है। तीसरा उपाय एथनाल है। हम गन्ने से ईंधन बना सकते हैं, परंतु यहां हमारी खाद्य सुरक्षा का प्रश्न है। जब हम कृषि भूमि से एथनाल का उत्पादन करेंगे तो उसी अनुपात में गेहूं, धान और सब्जी का उत्पादन कम हो जाएगा। इससे हमारी खाद्य सुरक्षा प्रभावित होगी। साथ ही अति दोहन से हमारी भूमि की गुणवत्ता में भी गिरावट आएगी।

चौथा उपाय थोरियम आधारित परमाणु ऊर्जा का है। परमाणु ऊर्जा बनाने के लिए यूरेनियम का उपयोग किया जाता है, जो हमारे पास कम मात्रा में उपलब्ध है। यूरेनियम का विकल्प थोरियम है, जो हमारे पास पर्याप्त मात्रा में है, लेकिन इससे ऊर्जा बनाने की तकनीक का विकास नहीं को सका है। पिछले 20 वर्षों से हम इसमें विशेष प्रगति नहीं कर पाए हैं, जबकि चीन शीघ्र ही थोरियम आधारित परमाणु ऊर्जा के प्रायोगिक संयंत्र का परीक्षण करने जा रहा है। यदि थोरियम पर सरकार विशेष ध्यान दे तब भी इसके विकास में 15 वर्ष लग जाएंगे और तब तक इस स्रोत से हमारी ऊर्जा की पूर्ति होना असंभव है। अतः अपनी ऊर्जा सुरक्षा को हम घरेलू ऊर्जा के उत्पादन को बढ़ाकर स्थापित नहीं कर सकते हैं। हमारे पास एकमात्र विकल्प है कि हम अपनी ऊर्जा की खपत कम करें।

नेचर पत्रिका के अनुसार विश्व के ऊपरी तबके की 10 प्रतिशत जनता द्वारा दुनिया की 50 प्रतिशत ऊर्जा खपत होती है। जाहिर है कि यदि हम ऊपरी वर्ग द्वारा ऊर्जा की खपत में कटौती करें तो ऊर्जा की खपत में भारी कमी आ सकती है। इसी पत्रिका के अनुसार निजी कार एवं बाइक का उपयोग ऊर्जा की खपत का एक प्रमुख स्रोत है। अतः पेट्रोल की अधिक खपत करने वालों के लिए उसकी अलग दर निर्धारित कर उसमें वृद्धि की जाए। उससे अर्जित टैक्स का उपयोग बस एवं

मेट्रो सेवा के विस्तार के लिए किया जाए। तब ऊर्जा की खपत में गिरावट आएगी और मेट्रो आदि के विस्तार से आम आदमी के जीवन स्तर में सुधार भी होगा। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि निजी वाहन की तुलना में मेट्रो से सफर करना ज्यादा उत्तम होता है, क्योंकि तब आप अपने समय का उपयोग अखबार आदि पढ़ने के लिए कर सकते हैं। इसलिए सरकार को चाहिए कि ऊपरी वर्ग द्वारा एक सीमा से अधिक ऊर्जा की खपत पर टैक्स लगाए।

ऊर्जा की खपत कम करने का दूसरा उपाय है कि हम सेवा क्षेत्र को महत्व दें। सेवा क्षेत्र की तुलना में मैन्यूफैक्चरिंग में दस गुना बिजली की खपत होती है। जैसे स्टील प्लांट में भारी मात्रा में बिजली लगती है, जबकि साफ्टवेयर प्रोग्राम बनाने में बिजली की खपत न्यून होती है। यदि हम 'मेक इन इंडिया' के स्थान पर 'सर्विस फ्राम इंडिया' का नारा दें तो उतनी ही आय को अर्जित करने में केवल दसवें हिस्से के बराबर ऊर्जा की जरूरत होगी।

ऊर्जा की कम खपत करने का तीसरा उपाय है कि ऊर्जा के उपयोग में सुधार करें। जैसे कार का न्यूनतम एवरेज अधिक हो तो उतने ही पेट्रोल से कार से हम ज्यादा दूरी का सफर कर सकते हैं। इसी तरह साधारण बल्ब के स्थान पर एलईडी बल्ब के उपयोग को बढ़ाया जाए। यदि हम एलईडी बल्ब का उपयोग करने के साथ-साथ सड़कों पर बल्ब की संख्या में भी वृद्धि करते जाएंगे तो कुल ऊर्जा की खपत कम नहीं होगी। इसलिए कुशलता में सुधार आवश्यक है, परंतु यह भी हमारी समस्या का मूल समाधान नहीं है। अंततः हमको ऊर्जा की खपत को ही कम करना होगा। इसका सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि हम ऊर्जा की प्रोग्रेसिव प्राइसिंग करें यानी अधिक खपत करने वालों के लिए बिजली और पेट्रोल के दाम में वृद्धि करें। यह भी विचारणीय है कि क्या ऊर्जा की खपत से हमारा जीवन स्तर वास्तव में सुधरेगा? अर्थशास्त्री अमत्रय सेन कहते हैं कि कम खपत में साधु सुखी होता है। यानी खपत और सुख का संबंध अनिवार्य नहीं है। हम देखते हैं कि जिन लोगों की खपत अधिक होती है, उन्हें स्वास्थ्य आदि समस्याएं भी अधिक परेशान करती हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र मानता है कि खपत से सुख अर्जित होता है, लेकिन यह सही नहीं है। साधु कम खपत में सुखी है, क्योंकि उसका बाहरी जीवन उसके अंतर्मन के सामंजस्य में है। वहीं ऊपरी वर्ग अधिक खपत में भी दुखी है, क्योंकि उसके बाहरी जीवन का अंतर्मन से विरोध रहता है। इसलिए हमें इस भ्रम से निकलना चाहिए कि ऊर्जा की अधिक खपत में वृद्धि से ही हमारा जीवन स्तर सुधरता है। हमें एक नए अर्थशास्त्र की रचना करनी होगी, जिसमें हम मनुष्य के सुख को प्राथमिक माने, न कि उसकी खपत को। इसके लिए हमें ऊर्जा की खपत बढ़ाने के बजाय कम ऊर्जा में बेहतर जीवन स्तर हासिल करने के उपायों पर ध्यान देना होगा। जब तक हम इस दिशा में कदम नहीं उठाएंगे तब तक हमारी ऊर्जा की खपत बढ़ती रहेगी और हमारे समक्ष ऊर्जा का संकट बना रहेगा।

Date:08-03-22

समर्थ भारत में आधी आबादी का योगदान

डा. ऋतु सारस्वत, (लेखिका समाजशास्त्र की प्रोफेसर हैं)

आधी आबादी का सशक्तीकरण एक लक्ष्य मात्र नहीं है, अपितु समानता, सतत विकास, शांति और लोकतंत्र की उपलब्धि के लिए अपरिहार्य तत्व भी है। यदि महिला सशक्तीकरण केवल संवैधानिक प्रविधानों, वैधानिक नियमों एवं महिला केंद्रित योजनाओं के निर्माण तथा क्रियान्वयन का प्रतिफल होता तो संभवतः वैश्विक पटल पर दशकों से खड़ा यह प्रश्न कब का

समाप्त हो चुका होता। महिला सशक्तीकरण और लैंगिक समानता की प्राप्ति की गति प्रत्येक समाज विशेष की संरचना एवं सांस्कृतिक मूल्यों पर निर्भर करती है। यह अच्छी बात है कि भारतीय महिलाएं अब सशक्त हो रही हैं, क्योंकि वे सामाजिक व्यवस्था में गहरी पैठ जमाए पितृसत्तात्मक विचारधारा से शनैः शनैः बाहर आ रही हैं। इस कड़ी में देश में महिला अस्तित्व की स्वीकारोक्ति एक सुखद सूचक है। राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण (एनएफएचएस)-पांच के आंकड़े बताते हैं कि अब प्रति हजार पुरुषों पर 1020 महिलाओं की उपस्थिति है। लिंगानुपात के आंकड़े यह इंगित कर रहे हैं कि लैंगिक समानता स्थापित करने की दिशा में भारत की गति संतोषजनक है।

सशक्तीकरण एक शब्द मात्र नहीं, अपितु अवधारणा है, जिसके मुख्य घटक स्वास्थ्य, शिक्षा, स्वावलंबन और नेतृत्व क्षमता का विकास है। स्वस्थ-शिक्षित महिलाएं न केवल अपने अधिकारों के प्रति सजग रहती हैं, अपितु एक स्वस्थ पीढ़ी के निर्माण में अपना योगदान भी देती हैं। स्वस्थ जीवन की प्राप्ति केवल चिकित्सकीय सुविधाओं की उपलब्धि से संभव नहीं है। यह स्वच्छ वातावरण के निर्माण से संभव है। महिलाओं के सबलीकरण का द्वार स्वच्छता पर आकर खुलता है। इस सत्यता की स्वीकारोक्ति 15 अगस्त, 2014 को लाल किले की प्राचीर से जब हुई तो महिला सशक्तीकरण की ओर सुदृढ़ पदचाप के स्वर सुनाई दिए। खुले में शौच से मुक्ति महिलाओं के स्वास्थ्य और आत्मसम्मान से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित है। खुले में शौच से बीमारियां फैलने की बात से कम-अधिक सभी परिचित हैं, परंतु इस तथ्य से कम ही लोग परिचित हैं कि यह गर्भवती महिलाओं के साथ-साथ गर्भस्थ शिशु के लिए खतरनाक हो सकता है। ओडिशा के दो जिलों सुंदरगढ़ और तटीय क्षेत्र खुर्दा की 670 गर्भवती महिलाओं पर किए एक अध्ययन में पाया गया कि शौचालय प्रयोग करने वाली महिलाओं की तुलना में खुले में शौच करने वाली करीब दो तिहाई महिलाओं को प्रसव के दौरान मुश्किलों का सामना करना पड़ा। इसके सुखद परिणाम एनएफएचएस-पांच की रिपोर्ट में सामने आए हैं। बीते पांच वर्षों में नवजात मृत्यु दर प्रति हजार में 29.5 से घटकर 24.9 हुई है।

महिला सशक्तीकरण के उस पक्ष की चर्चा करना भी आवश्यक है जिस पर चुप्पी ने देश की लाखों महिलाओं को न केवल अस्वस्थ किया, अपितु उनके सुदृढ़ भविष्य के निर्माण में एक बड़ा अवरोध भी उत्पन्न किया। माहवारी से जुड़ी वर्जनाओं को तोड़ने की दिशा में उठाए गए सरकार के कदम भविष्य में मील का पत्थर सिद्ध होंगे। उल्लेखनीय है कि संयुक्त राष्ट्र ने मासिक धर्म की स्वच्छता को वैश्विक मुद्दा माना है। विश्वस्तर पर करीब 1.2 अरब महिलाओं को बुनियादी स्वच्छता की सुविधा नहीं मिलती है। 2020 में विश्व भर में 3,42,000 महिलाएं सर्वाइकल कैंसर के कारण मृत्यु को प्राप्त हुईं, जिसका प्रमुख कारण मासिक धर्म में बरती जाने वाली अस्वच्छता है, परंतु अब तस्वीर बदल रही है। एनएफएचएस-पांच की रिपोर्ट बताती है कि पांच वर्ष पूर्व देश में महिलाओं में माहवारी स्वच्छता का प्रतिशत 48.2 था, जो अब बढ़कर 72.3 प्रतिशत हो गया है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव महिला के स्वास्थ्य पर तो पड़ेगा ही, साथ ही यह महिलाओं में साक्षरता के परिदृश्य को भी प्रभावित करेगा, क्योंकि चौथे राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के आंकड़े बताते हैं कि लगभग 23 प्रतिशत लड़कियों ने स्कूल छोड़ने के मुख्य कारण के रूप में मासिक धर्म को सूचीबद्ध किया था।

सशक्तीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण घटक आर्थिक सुदृढीकरण है, क्योंकि यह निर्णय लेने की क्षमता को विकसित करता है। आर्थिक सुदृढता की वृहद अवधारणा में स्वरोजगार, कुटीर उद्योगों की स्थापना तथा भूमि एवं संपत्ति के अधिकार शामिल हैं। महिला का भूमि और संपत्ति पर अधिकार लैंगिक समानता को बढ़ावा देता है, जो अंततः विकास की ओर ले जाता है। महिलाओं के नाम संपत्ति होने की अवस्था में पंजीयन शुल्क में छूट होने के बावजूद महिलाओं का संपत्ति पर मालिकाना हक मंथर गति से बढ़ना पितृसत्तात्मक सोच का परिणाम है। इस सोच से निपटने के लिए ही बीते वर्ष उत्तर प्रदेश के 75 जिलों में प्रधानमंत्री आवास योजना के तहत आवंटित 75,000 घरों का मालिकाना अधिकार

महिलाओं के नाम किया गया। अध्ययन बताते हैं कि जिन महिलाओं के नाम संपत्ति होती है, वे न केवल घरेलू निर्णयों में भागीदार होती हैं, बल्कि उन महिलाओं की तुलना में अपेक्षाकृत घरेलू हिंसा का कम शिकार होती हैं जिनके नाम संपत्ति नहीं है। वित्तीय शक्तियों पर महिलाओं के प्रत्यक्ष अधिकार उनके आत्मबल में बढ़ोतरी करते हैं। बीते कुछ वर्षों में भारत में महिलाओं के स्वयं के नाम बैंक खातों की संख्या 25.6 प्रतिशत बढ़ी है। भारत की विकास दर को कायम रखने में बचत दर सकल घरेलू उत्पाद का 33 प्रतिशत है, जिसमें 70 प्रतिशत घरेलू बचत का योगदान है। इसमें संदेह नहीं कि भारत की अर्थव्यवस्था महिला केंद्रित है।

कुल मिलाकर महिलाएं अर्थव्यवस्था में उपभोक्ता, उत्पादक, कर्मचारी और उद्यमियों का स्थान ग्रहण कर रही हैं। पुलिस, सेना, इंजीनियरिंग, वित्त-व्यवसाय आदि क्षेत्रों में उनकी हिस्सेदारी बढ़ रही है। यही सशक्त भारत की वह तस्वीर है, जिसकी स्वीकृति नवीन आत्मनिर्भर भारत की कहानी लिखेगी।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:08-03-22

केंद्रीय बैंक की परिसंपत्तियों पर रोक कितनी कारगर?

अजय शाह

यूक्रेन पर हमला करने के बाद अमेरिका के नेतृत्व में यूरोपीय देशों ने रूस पर कई आर्थिक एवं वित्तीय प्रतिबंध लगाए हैं। इनमें केंद्रीय बैंक की परिसंपत्तियों पर रोक लगाना भी शामिल है। ऐसा समझा जाता है कि परिसंपत्तियों पर लेनदेन संबंधी प्रतिबंध लगाने से केंद्रीय बैंक पर काफी प्रतिकूल असर पड़ता है मगर सच्चाई यह है कि यह असर उतना नहीं होता है जितना प्रायः समझा जाता है। प्रतिबंधों के बाद भी रूस का केंद्रीय बैंक रूबल छाप सकता है और महंगाई नियंत्रित करने के उपाय जारी रख सकता है। हां, प्रतिबंधों के कारण केंद्रीय बैंक बाजार में विनिमय दर पर किसी तरह का असर डाल पाने में असमर्थ रहता है।

जब चीन ने भारत के खिलाफ सीमा पर अतिक्रमण किया था तो उसने तर्क दिया कि सीमा पर भले ही सैनिक एक दूसरे से उलझे हैं मगर आर्थिक गतिविधियां जारी रहनी चाहिए। भारत के लिए यह असहज स्थिति थी। भारत ने चीन के साथ आर्थिक संबंधों को किनारे कर दिया और कहा कि पड़ोसी देशों के साथ आर्थिक सहयोग उनके अच्छे एवं अनुकूल व्यवहार पर आधारित है। हालांकि भारत एक सीमा तक ही चीन के साथ आर्थिक गतिविधियों पर विराम लगा सकता है। इसका कारण स्पष्ट है। भारत चीन की अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक महत्व नहीं रखता है। इसके विपरीत चीन भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण है। चीन के साथ बिगड़े हालात का सामना भारत ने स्वयं अपने दमखम पर किया है। भारतीय विदेश नीति दशा-दिशा को देखते हुए कोई भी देश ऐसे कदम उठाने के लिए तैयार नहीं था जो चीन पर प्रभाव डाल सकता था।

यूक्रेन की विदेश नीति अलग है। यूक्रेन अलग-थलग नहीं है और वहां के राष्ट्रपति व्लोदोमिर जेलेन्स्की विश्व पटल पर छा गए हैं। पूरी दुनिया में कई देश उस नए सिद्धांत का हिस्सा बन गए हैं कि वैश्वीकरण का लाभ अच्छे व्यवहार पर निर्भर करता है। अगर रूस पूर्ववर्ती सोवियत संघ की तरह व्यवहार करता है तो वह भी सोवियत संघ की तरह अलग-थलग पड़ जाएगा। इस बीच, चीन रूस के कदम पर पैनी नजर रख रहा है और संभव है कि वह भी ताइवान पर अपना आधिपत्य करने के लिए उपलब्ध विकल्पों पर विचार करेगा।

आर्थिक एवं वित्तीय प्रतिबंध लगाने में केंद्रीय बैंक की परिसंपत्तियां जब्त करना भी शामिल है। इसका आशय एवं मीडिया में जिक्र थोड़ा बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है। इस भ्रम का कारण 'विदेशी मुद्रा भंडार' की परिभाषा है। 'विदेशी मुद्रा भंडार' का तात्पर्य प्रायः केंद्रीय बैंक के पास उपलब्ध परिसंपत्तियों के भंडार से है। ऐसा मानना उपयुक्त नहीं है। प्रत्येक केंद्रीय बैंक का अपना 'मौद्रिक बहीखाता' होता है। इस बहीखाते में रूबल देनदारी समझी जाती है और इसके बदले उसी अनुपात में परिसंपत्तियों का भी प्रावधान किया जाता है। ये परिसंपत्तियां और देनदारियां अवश्य बराबर होनी चाहिए। इसका अर्थ है कि प्रत्येक रूबल के समतुल्य परिसंपत्ति का प्रावधान होना चाहिए। रूस का केंद्रीय बैंक रूबल छापता है और इसकी मदद से नई परिसंपत्तियां खरीदता है। इन परिसंपत्तियों को सहेज कर रखा जाता है। केंद्रीय बैंक परिसंपत्तियां बेच भी सकता है और इस क्रम में रूबल जमा कर सकता है।

परिसंपत्ति के मामले में केंद्रीय बैंक घरेलू या विदेशी परिसंपत्तियां रखने का विकल्प चुन सकता है। इन विदेशी परिसंपत्तियों को ही भ्रमवश 'विदेशी मुद्रा भंडार' का नाम दे दिया जाता है। वे इस अर्थ में भंडार नहीं जानी जा सकती क्योंकि इनका इस्तेमाल इच्छानुसार नहीं किया जा सकता है। अगर केंद्रीय बैंक इस भंडार को बेचने का निर्णय लेता है तो इससे अर्थव्यवस्था में रूबल की मात्रा उसी अनुपात में कम करनी होगी। इससे अल्प अवधि की ब्याज दर बढ़ जाएगी। व्यावहारिक स्तर पर कुछ नहीं बदला है। रूसी अर्थव्यवस्था में रूबल को समर्थन देने वाले लेनदेन हो रहे हैं। ये लेनदेन कुछ उन परिसंपत्तियों से जुड़े हैं जिनका कारोबार नहीं हो सकता है। रूस सरकार की तरफ से मुद्रा जारी करने वाला बुनियादी ढांचा पहले की तरह ही काम कर रहा है। केंद्रीय बैंक रोजमर्रा की तरह बहीखाते के आकार में लगातार बदलाव (अल्प अवधि की ब्याज दरों बदलाव) ला रहा है ताकि महंगाई दर स्थिर और कम स्तर पर रहे। वे ऐसा करने में पूरी तरह सक्षम हैं।

वास्तव में केंद्रीय बैंक के बहीखाते में विदेशी परिसंपत्तियां अहम नहीं हैं। केंद्रीय बैंक के बहीखाते में केवल घरेलू परिसंपत्तियां रखकर मुद्रा छापना पूरी तरह संभव है। हां, रूस का केंद्रीय बैंक मुद्रा बाजार में अपनी गतिविधियां चलाने में स्वयं को सक्षम नहीं पा रहा है। सामान्य तौर पर आपूर्ति एवं मांग विनिमय दर करती हैं। केंद्रीय बैंक स्थानीय मुद्रा छाप कर अमेरिकी सरकारी बॉन्ड जैसी विदेशी परिसंपत्तियां खरीदने में इनका इस्तेमाल कर सकते हैं। ये बड़े आकार के सौदे मुद्रा बाजार में बाजार द्वारा तय कीमतों के साथ छेड़छाड़ कर सकते हैं। मगर एक बार वैश्विक वित्तीय प्रणाली से रूस के केंद्रीय बैंक के अलग होने से उसके लिए ऐसे सौदे कर पाना संभव नहीं रह जाता है।

अधिकांश सुदृढ़ संरचना वाले केंद्रीय बैंक मुद्रा बाजार को हानि नहीं पहुंचाते हैं। उनका मूल उद्देश्य महंगाई दर नियंत्रित करने के इर्द-गिर्द रहता है। किसी अर्थव्यवस्था में विनिमय दर एक महत्वपूर्ण पक्ष होती है। जिस तरह सरकार इस्पात या पेट्रोलियम उत्पादों के मूल्य नियंत्रित के लिए हस्तक्षेप करती है उसी तरह विनिमय दर भी नियंत्रित करने का प्रयास किया जाता है। एक सुव्यवस्थित मौद्रिक नीति तब तैयार होती है जब केंद्रीय बैंक विनिमय दर तय करने से स्वयं को दूर रखता है और अपना सारा ध्यान महंगाई नियंत्रित करने केंद्रित करता है।

जब रूस का केंद्रीय बैंक विदेशी परिसंपत्तियों में कारोबार नहीं कर पाता है तो इसका असर तुलनात्मक रूप से कम होता है। इससे रूबल छापने और घरेलू स्तर पर महंगाई दर नियंत्रित करने के केंद्रीय बैंक के कार्यों पर कोई असर नहीं होता है। जब तक प्रतिबंध लगे रहते हैं तब तक रूस का केंद्रीय बैंक मुद्रा नीति में शामिल नहीं हो सकता है।

पिछले एक सप्ताह में अमेरिका डॉलर की तुलना में रूबल 84 से 124 तक चला गया है। यूक्रेन पर आक्रमण करने के खिलाफ दुनिया के देशों की तरफ से लगाए गए प्रतिबंधों के असर वाजिब लग रहे हैं। इससे युद्ध छेड़ने के लिए रूस को वित्तीय स्तर पर कठिनाइयों का सामना करना होगा और आत्मनिर्भर बनने की राह में आने वाले प्रतिकूल असर से निपटना होगा। अगर रूसी केंद्रीय बैंक की विदेशी परिसंपत्तियों तक पहुंच होती और रूबल में आई इस कमजोरी से लड़ने की उसने कोशिश की होती तो यह रूस के लिए हानिकारक होता।

इन तमाम बातों का व्यापक संदर्भ काफी महत्वपूर्ण है। यूक्रेन और ताइवान जैसे देश की विदेश नीति अलग-थलग रहने के बजाय गठबंधन तैयार करने में विश्वास रखती है। इस वजह से इन पर कोई देश आक्रमण करता है तो उसे एक नए सिद्धांत से जूझना होगा। वह सिद्धांत यह है कि 'वैश्वीकरण का लाभ तभी मिल सकता है जब आपका व्यवहार अच्छा है। अगर आप गलत व्यवहार करते हैं तो दुनिया एकजुट होकर आपको दंडित करेगी जिसका असर लंबे समय तक दिखेगा।' इस समय ढांचे के तहत केंद्रीय बैंक को विदेशी परिसंपत्तियों में कारोबार करने से रोकना मात्र एक छोटा सा कदम है। 'विदेशी मुद्रा भंडार' को लेकर भ्रामक धारणा होने से इस बात को काफी बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाता है। बस इसका असर यह होता है कि केंद्रीय बैंक मुद्रा बाजार में छेड़छाड़ नहीं कर सकता है और विनिमय दर का निर्धारण बाजार के माध्यम से होता है।

Date:08-03-22

पर्यावरण मंजूरी की व्यवस्था को बनाना होगा मजबूत

सुनीता नारायण

मैंने पिछले पखवाड़े अपने स्तंभ में लिखा था कि पर्यावरण मंजूरी का हौआ पर्यावरण बनाम विकास की झूठी बहस को बढ़ावा देता है जबकि हकीकत यह है कि ऐसी मंजूरी बिना सोचे समझे किए जाने वाले विकास पर निगरानी रखने के लिए जरूरी है। मैं इस बात को थोड़ा स्पष्ट करती हूं।

कुछ वर्ष पहले मैं एक उच्च स्तरीय समिति की सदस्य थी जिसकी स्थापना गंगा की ऊपरी धाराओं में जलविद्युत परियोजनाओं को पर्यावरण संबंधी मंजूरी देने के लिए की गई थी। आप कह सकते हैं कि परियोजनाओं को पर्यावरण और वन संबंधी मंजूरीयों की वजह से रोका गया और ऐसा करना विकास को बाधित करने जैसा था। परंतु जल्दी ही यह स्पष्ट हो गया कि सभी परियोजनाओं को पर्यावरण मंजूरी दे दी गई थी। इन असीमित और एक के बाद एक लगातार मंजूरी पाने वाली योजनाओं से न केवल गंगा के प्रवाह पर असर पड़ेगा बल्कि कई मौसमों में तो यह नदी सूख भी सकती है। ऐसी स्थिति में जलवायु परिवर्तन के जोखिम से दो चार हिमालय की पहाड़ियों पर भूस्खलन तथा बरबादी की आशंका और बढ़ जाएगी। समस्या जलविद्युत से नहीं थी। बल्कि यह तो बिजली का स्वच्छ और नवीकरणीय माध्यम है।

हिमालय क्षेत्र में यह प्रचुर मात्रा में उपलब्ध भी है। परंतु इन परियोजनाओं को बिना सोचे समझे स्थापित किया गया और मंजूरी प्रदान की गई। इस बात पर विचार ही नहीं किया गया कि किन शर्तों पर और कितनी परियोजनाओं को स्वीकृति प्रदान की जानी चाहिए। तो क्या यह मामला पर्यावरण बनाम विकास का है? या फिर जानबूझकर गलत विकास का?

मैं इस बात को दोहराने के लिए यह लिख रही हूँ कि हमें एक मजबूत, विश्वसनीय पर्यावरण निगरानी व्यवस्था की आवश्यकता है ताकि हम पर्यावरण और विकास में संतुलन कायम कर सकें और नुकसान को कम कर सकें। पर्यावरण की दृष्टि से एक प्रभावी व्यवस्था ऐसा होना सुनिश्चित करेगी और यह डिजाइन और क्रियान्वयन दोनों स्तरों पर होगा।

ऐसे में यह व्यवस्था प्रभावी कैसे बनेगी? सबसे पहले, हमें यह स्वीकार करना होगा कि व्यवस्था गैर जरूरी रूप से जटिल हो गई है और इसे सुसंगत बनाने की आवश्यकता है। पर्यावरण, वन, वन्यजीव और तटीय सभी प्रकार की मंजूरीयों को एकीकृत करने की आवश्यकता है ताकि पर्यावरण प्रभाव आकलन (ईआईए) को व्यापक बनाया जा सके। वर्ष 2022-23 के बजट में वित्त मंत्री ने एकल खिड़की मंजूरी प्रणाली की घोषणा की। परंतु चूंकि यह पूरी तरह कारोबारी सुगमता पर केंद्रित है इसलिए यह इस पहले से ध्वस्त प्रणाली को और नुकसान पहुंचाएगी। ऐसे में मंजूरी प्रणाली को ऐसे पैकेज का हिस्सा बनाया जाना चाहिए जो सार्वजनिक प्रतिभागिता और निगरानी व्यवस्था को भी मजबूत करे।

दूसरी बात सार्वजनिक आकलन की प्रक्रिया को गहराई प्रदान की जानी चाहिए। मैं यह बात यह जानते हुए कह रही हूँ कि समुदाय की बात और उसकी आपत्तियां सुनने की बात उतनी ही भ्रष्ट हो सकती है जितना कि हमारी व्यवस्था के अन्य अंग हैं। आज सार्वजनिक सुनवाइयों का आयोजन होता है लेकिन बात सुनी नहीं जाती। हमें इसे एक अहम प्रक्रिया के रूप में देखना होगा। जब सामुदायिक चिंताओं पर ध्यान दिया जाता है और दिक्कतों को दूर करने के प्रयास किए जाते हैं तो परियोजनाओं से जुड़े जोखिम कम हो जाते हैं। किसी भी अनिवार्य सार्वजनिक सुनवाई का वीडियो प्रसारण किया जाना चाहिए। परियोजना का आकलन कर रही समिति की यह जवाबदेही होनी चाहिए कि वह समस्त चिंताओं का ध्यान रखे। इसके लिए निगरानी और अनुपालन की शर्तों को सार्वजनिक रूप से प्रस्तुत किया जाना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि केंद्र और राज्यों में पर्यावरण आकलन समितियों की भूमिका की समीक्षा की जाए। ये समितियां इस प्रक्रिया की सबसे कमजोर कड़ी हैं क्योंकि ये परियोजना के अनुपालन या निगरानी के लिए जवाबदेह नहीं होतीं। ऐसे में यह कहना हास्यास्पद है कि विशेषज्ञ स्वतंत्र होते हैं। हकीकत में ये समितियां सरकार को उन निर्णयों के लिए कम जवाबदेह बनाती हैं जो परियोजना की छंटनी के दौरान लिए जाते हैं। अब समय आ गया है कि इन समितियों को भंग कर दिया जाए और आकलन तथा निगरानी का काम केंद्र तथा राज्यों के पर्यावरण विभागों द्वारा किया जाए। विशेषज्ञता के संदर्भ में इन्हें मजबूत बनाना आवश्यक है। इसके साथ ही मंजूर या नामंजूर परियोजनाओं की सूची और उनकी स्थिति को भी सार्वजनिक किया जाना चाहिए।

सबसे अहम एजेंडा यह है कि मंजूरी के बाद परियोजनाओं की निगरानी व्यवस्था मजबूत की जाए। इसके लिए सभी एजेंसियों के काम को एकीकृत करने की आवश्यकता है। इसमें राज्य प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड से लेकर तटीय और वन संबंधी संस्थान शामिल हैं। फिलहाल कई एजेंसियां होने के बावजूद प्रवर्तन कमजोर है। अनुपालन के लिए निगरानी पर ध्यान देना अहम है। यदि ऐसा नहीं किया गया परियोजनाओं के प्रभाव का आकलन करने के इस प्रयास का कोई लाभ नहीं। परंतु यह सब तब तक कारगर नहीं होगा जब तक कि परियोजना से जुड़े बुनियादी आंकड़े विश्वसनीय न हों और सार्वजनिक रूप से उपलब्ध न हों। इसके लिए विभिन्न पर्यावरण मानकों पर आधारित उन्नत सूचनाएं जुटाने की प्रक्रिया

तथा परियोजना की पारिस्थितिकी महत्ता को मजबूत करना जरूरी है। इन आंकड़ों को सार्वजनिक रूप से उपलब्ध कराया जाना चाहिए ताकि पर्यावरण प्रभाव आकलन रिपोर्ट तैयार करते समय इसकी विश्वसनीयता और वैज्ञानिकता को परखा जा सके।

यह सब तथा ऐसे अन्य कदम तभी संभव हैं जब हमें यकीन हो कि परियोजनाओं के मूल्यांकन की प्रक्रिया का मूल्य है। वरना ये मंजूरियां निरर्थक कवायद बनकर रह जाएंगी।

जनसत्ता

Date:08-03-22

समानता की बाधित राहें

पूनम पांडे

एक बार ऐसा हुआ था कि महिलाओं ने घरेलू काम की अनिवार्यता को लेकर जिद पकड़ ली और केवल एक चर्चा शुरू की जो महिलाओं को हर दिन दो समय रोटी बेलने को लेकर की गई थी। आंदोलनकारी स्त्रियों का कहना था कि एक औसत परिवार संभालने वाली महिला अपने गृहस्थ जीवन को निभाते हुए अनुमान लगा कर लगभग चार लाख रोटियां बेलती और सेंकती है। वास्तविक संख्या शायद इससे कहीं अधिक ही होगी। मगर थोड़ी-बहुत बातचीत के बाद यह बात आई-गई हो गई। किसी पंचायत या सरकार ने यह समझने की जरूरत नहीं समझी कि जीवन भर अपनी रोज की दिनचर्या में हाड़ तोड़ देने वाली मेहनत करने वाली महिलाएं बस रोटी को लेकर ऐसी बात क्यों कर रही हैं। समझदारी और संवेदनशीलता दिखाई गई होती तो संकेत समझा जा सकता था कि यह समाज के लिए सोचने की बात थी और महिलाओं को इस रूप में अपना असंतोष व्यक्त करना था।

दरअसल, विश्व समाज की यह एक विशेषता बन गई है कि परिवार और खानदान कला से जुड़ा रहेगा, पर उसके लिए यह विचार दरकिनार करने लायक लगेगा कि उसी घर में कोई महिला वंचना की शिकार तो नहीं हो रही। महिलाओं और उनके हक को लेकर कोई मुद्दा उठता भी है तो बार बार स्थगित हो जाता है। महिलाओं को भी लीक से हट कर चलना शायद अजीब लगता है। इसीलिए बहुत बार ऐसा होता है कि पुरुष समाज के तर्क बाकी चीजों को महत्वपूर्ण बता कर एक स्त्री मन को समझना नहीं चाहता। 'खुमारी और मायूसी' औरत के लिए महज एक शब्द है, जादुई अहसास दिल में कहीं सिकुड़े से ही रहते हैं। इनको अभिव्यक्त करने का मतलब चरित्र पर सवाल।

आम भारतीय परिवारों में आज भी स्त्री की परिभाषा वही है। सुंदर, व्यावहारिक, मीठी बोली, सहनशीलता, कार्य में गरिमा। चुनौतियां आएंगे तो हलचल नहीं। एक बेकार धारणा है कि औरत लोहे-सी मजबूत होती है। इसका मतलब अब यही लगता है कि स्त्री जितनी पीड़ित है, उससे ज्यादा पीड़ा सहने की क्षमता रखती है। सवाल है कि इस पीड़ा की सीमा कहां खत्म होती है? और यह वाक्य तो घिस-पिट चुका है कि स्त्री की सामंजस्य क्षमता औरों की तुलना में कहीं अधिक है। सोचती हूं कि अगर यह सच होता तो दुनिया भर में हर साल पच्चीस लाख से ज्यादा शादीशुदा महिलाओं के आत्मघात के मामले क्यों होते!

पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की संजीदगी से की गई शिरकत को रती भर ही सम्मान मिल सका है। भोलापन, लापरवाही, नादानी और मूर्खता के लिए बेटे को लाड़ और एक औसत भारतीय बेटे को फटकार ही मिलती है। जबकि बेटे को भी तो यही एक नपा-तुला मनुष्य जन्म मिला है। पर किसी अनजान भय से महिला आज तक खुल कर नहीं खिल रही। एक महिला को पारिवारिक परिवेश में हमेशा व्यक्तिगत रूप से उपस्थित होकर सजीव प्रस्तुति देनी होती है। समाज ने अभी औसत महिला को इतना प्यार नहीं दिया कि वह सिर उठा कर संवाद स्थापित करे।

आज भी राजधानी दिल्ली तक में युवतियों को सरेआम छींटाकशी, हिंसा, प्रताड़ना, छेड़छाड़ जैसी समस्याओं से दो-चार होना पड़ता है। एक सशक्त महिला के तौर पर हमारी कोई मजबूत नेता यह जरूर चाहती रही होंगी कि हर कोने से मजबूत महिलाएं नेतृत्व की क्षमता के साथ आगे आएं और बेहतरीन मुकाम हासिल करें। मगर कितनी अजीब बात है कि परंपरागत भारतीय समाज आज भी महिलाओं को लेकर रूढ़िवादी है।

दरअसल, जो समस्या रही है, वह दहलीज से बाहर भागदौड़ की दुनिया, कामकाजी संसार में उसके साथ होने वाले व्यवहार की है। हमारे यहां स्त्री सशक्तिकरण के जितने आंदोलन चले, वे मानसिकता को बदलने और व्यवहार में आई जड़ता को तोड़ने के लिए ही रहे। लेकिन इस दिशा में हमारा समाज कितना आगे बढ़ सका, सभ्य और संवेदनशील हो सका? आज के समय में हमारे देश में महिलाएं भले ही सानिया मिर्जा, मैरी काम, हिमा दास, पीवी संधू, कर्णम मल्लेश्वरी, प्रियंका चोपड़ा आदि में खुद को देखती हों, पर मूल रूप से हर महिला हर जगह पर उतनी भी सुरक्षित और सम्मानित नहीं दिखती, जितने अधिकार और अवसर उन्हें संविधान में दिए गए हैं। हर सुबह खबरों में यह घोषणा होती है कि महिला समाज पीड़ित, प्रताड़ित और भयभीत है और अपने अस्तित्व को लेकर आशंकित भी है, जो निराधार भी नहीं है। जरूरत से ज्यादा परखने-जांचने और आजमाने की कोशिश ने महिला को भीतर से कहीं बागी भी बना दिया है। हमें महिला दिवस पर बैठक, सेमिनार, विचार गोष्ठी, आंदोलन, नारेबाजी के दिखावे के बजाय महिलाओं को एक आत्मविश्वासी जीवन के अवसर देने और लैंगिक असमानता से समानता के गलीचे पर चहलकदमी करने की आजादी मिले तो कमाल हो जाए। यह परिवर्तन इस लिहाज से भी महत्वपूर्ण है कि महिलाओं को अशिक्षित, असम्मानित और उपेक्षित छोड़ कर तरक्की की उम्मीद छलनी में पानी भरने जैसा होगा।

राष्ट्रीय
सहारा

Date:08-03-22

मोदी शासन और नारी शक्ति

डॉ. संजय मयूख, (लेखक भाजपा के राष्ट्रीय प्रवक्ता एवं मीडिया सहप्रभारी हैं)

भारत स्त्रीशक्ति को प्रधानता देने वाले देशों में अग्रणी है। कालांतर में मुगल, पाश्चात्य और सामी (सेमेटिक) विचारों के दुष्प्रभावों के चलते महिला स्वाभिमान, स्वावलंबन और स्त्री की सामाजिक गरिमा का हास हुआ। फिर भी हमारे पास ऐसी नायिकाओं की बहुलता है, जिन्होंने देश और समाज को दिशा दिखाने का काम किया है। हमारे पास ऐसे उदाहरणों की

कमी नहीं है, जबकि सामी विचारों से प्रभावित देशों में महिलाओं को मूल अधिकार भी बड़ी मुश्किल से मिलते थे। आजादी के बाद भारत में सेमेटिक चिंतन से प्रभावित सरकारों ने भारत की इस शक्ति को नष्ट करने का भरपूर प्रयास किया।

प्राचीन भारत में गोंड रानी दुर्गावती जिन्होंने अकबर के खिलाफ युद्ध किया, इंदौर की रानी अहिल्याबाई होलकर जिन्होंने काशी विनाथ और सोमनाथ सहित तमाम मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया और सफलतापूर्वक शासन किया। कित्तूर की रानी चेनम्मा और रानी जयराज कुमारी हंसवर का नाम भी मुगलों के खिलाफ युद्ध लड़ने वाली विरांगनाओं में मिलता है। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और उनकी सेना की वीरांगना वाहिनी की सेनापति झलकारी बाई का नाम अंग्रेजों से लोहा लेने वालों में प्रमुख है। अवंतीबाई लोधी और उदादेवी पासी भी इसी कड़ी का हिस्सा हैं। मैत्रेयी, गार्गी और अनुसूया जैसी विदुषी महिलाओं का नाम भी सम्मान के क्रम में लिया जाता है। सावित्री बाई फुले, रमाबाई भी प्रमुख नाम हैं। ऐसे न जाने कितने अनिगनत उदाहरण भरे पड़े हैं, जबकि इसके उलट पाश्चात्य देशों में शासन और सुधार की बात तो छोड़ ही दीजिए वोटिंग और पूजा के अधिकार से भी महिलाएं वंचित ही रहीं, जबकि भारतीय दर्शन के प्रचारक स्वामी विवेकानंद का स्पष्ट मानना था कि 'एक व्यक्ति को पढ़ाओगे, तो एक व्यक्ति ही शिक्षित होगा, लेकिन एक स्त्री को पढ़ाओगे, तो पूरा परिवार शिक्षित होगा।'

देश की आजादी के बाद सामी विचारों के प्रभाव में रहने के कारण सरकारों ने भी महिलाओं की स्थिति के संबंध में बहुत धीमी गति से काम किए, जिसके परिणामस्वरूप अनिगनत सामाजिक कुरीतियों का सृजन हुआ। हालांकि भारतीय सामाजिक दृष्टि के प्रभाव के कारण समय-समय पर सामाजिक चेतना में बदलाव होते रहने पर भारत में इसका दुष्प्रभाव बहुत अधिक नहीं हुआ। सरकारों ने दबाव में ही कुछ-न-कुछ ऐसे प्रयत्न किए, जिससे यह दिखे की सरकार सशक्तिकरण को लेकर गंभीर है। 2014 के बाद की इस दिशा में वास्तविकता के साथ धरातल पर क्रियान्वयन की गति बढ़ी। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने भारतीय विचारों को महत्व दिया, जिसका परिणाम आज सामने है। स्वाभिमान को खो चुकी भारतीय महिला अस्मिता में चेतना आई। सामाजिक और आर्थिक बदलावों को लेकर शुरू की गई योजनाओं ने महिला को घर की मालकिन की भूमिका देने का काम किया है। प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने केंद्र में सत्ता संभालने के साथ ही महिलाओं को आर्थिक रूप से सशक्त करने की दिशा में कदम उठाने शुरू कर दिए। वर्ष 2017 में महिला शक्ति केंद्र योजना शुरू की गई।

इसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं को सामाजिक भागीदारी के माध्यम से सशक्त करना था, जिसमें आर्थिक आत्मनिर्भरता भी शामिल है। स्व रोजगार के लिए चलाई जा रही 'मुद्रा लोन' योजना के 75 प्रतिशत ऋण महिलाओं को दिए गए। देश में 'फ्री सिलाई मशीन' योजना वर्ष 2021 में शुरू की गई। इसका उद्देश्य आर्थिक रूप से कमजोर महिलाओं को स्वरोजगार के लिए प्रेरित करते हुए उन्हें आर्थिक रूप से सशक्त करना था। सुदूर ग्रामीण व वन्य क्षेत्रों में रहने वाली महिलाएं भी मोदी सरकार की योजनाओं से लाभान्वित हुईं। विकासशील देशों में लिंगानुपात में महिलाओं की दयनीय स्थिति को देखकर ही नोबल पुरस्कार से सम्मानित अर्थशास्त्रीम अमत्र्य सेन ने 'मिसिंग वीमेन' शब्दों का प्रयोग किया था, लेकिन बेटियों के शिक्षित और आर्थिक रूप से सशक्त होने से देश में 'मिसिंग वीमेन' मिल गई। प्रति हजार पुरुषों के मुकाबले महिलाओं की संख्या में बढ़ोतरी हुई। नेशनल फैमिली एंड हेल्थस सर्वे 5 के मुताबिक देश में महिलाओं की संख्या 1000 पुरुषों के मुकाबले 1020 हो गई है। ऐसा पहली बार हुआ और यह महिलाओं के सशक्त करने के मोदी सरकार के समर्पित प्रयास के कारण ही हुआ है। लोगों को यह जानना चाहिए कि भारत में प्राचीन काल में महिलाएं न केवल शैक्षिक रूप से, बल्कि आर्थिक रूप से भी सशक्त थीं। उन्हें संपत्ति में बराबरी का अधिकार प्राप्त था। यह

केवल कहने के लिए नहीं था, बल्कि वे व्यावहारिक रूप से इस शक्ति का इस्तेमाल कर पाती थीं। वे अपने बच्चों के मानसिक और शारीरिक विकास पर ज्यादा ध्यान दे पाती थीं। यह वैदिक काल से था और इसका उत्कर्ष मगध काल में नजर आता है।

इतिहास साक्षी है कि अलेक्जेंडर की सेना भी मगध की सेना के भय के कारण भारत में प्रवेश किए बिना लौट गई। मगध के पतन के बाद छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ और वे वर्चस्वत के लिए आपस में लड़ने लगे। इससे देश धीरे-धीरे कमजोर होने लगा और विदेशी ताकतों को भारत में प्रवेश करने का मौका मिला। वे भारत पर आक्रमण करने लगे और अंततः 12वीं सदी के अंत में वे भारत पर प्रवेश कर गए। इसके साथ ही भारत पर विदेशी शक्तियों का कब्जा हो गया और महिलाओं की स्थिति दयनीय हो गई। भारत विश्व में सिंह की तरह गर्व से मस्तक उठाए रख सकेगा, इसके लिए दूरदर्शी प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने देश की बेटियों को फिर से आर्थिक और शैक्षिक रूप से सशक्त बनाने का संकल्प लिया। उन्होंने बेटे बचाओ, बेटे पढ़ाओ योजना, मिशन वात्सल्य और मिशन शक्ति के माध्यम से महिलाएं सशक्त किया।

निशुल्क 12 करोड़ गरीबों के घरों में शौचालय का निर्माण, पीएम आवास योजना के माध्यम से लगभग 11 करोड़ घर और लगभग 10.5 करोड़ घरों में गैस कनेक्शन देकर, मुस्लिम महिलाओं के लिए तीन तलाक को खत्म कर, आयुष्मान भारत योजना के तहत 5 लाख रुपये तक इलाज की सुविधा और कार्यरत गर्भवती महिलाओं का अवकाश 12 सप्ताह से बढ़ाकर 26 सप्ताह करने से महिलाओं को मानसिक एवं आर्थिक सशक्तिकरण किया गया है। युगप्रवर्तक प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी महिलाओं को सशक्तन करते हुए भारत को वैश्विक पटल पर मजबूत किया है।

Live
हिन्दुस्तान
.com

Date:08-03-22

उन्हें थोड़ी नहीं, पूरी जगह चाहिए

विभूति नारायण राय, (पूर्व आईपीएस अधिकारी)

हर साल हम बहुत से कार्यक्रम फर्ज अदायगी के लिए आयोजित करते हैं और उन्हीं में से एक 8 मार्च को मनाया जाने वाला अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस है। हर साल कुछ घोषणाएं होती हैं, कुछ कार्यक्रम तय किए जाते हैं और कुछ योजनाएं बनती हैं। इस बार भी इनसे बहुत कुछ मिलता-जुलता होगा, लेकिन पिछले वर्षों में ऐसा भी कुछ घटने लगा है, जो औपचारिक रूप से कर्मकांड की तरह कार्यक्रम मनाने वालों के लिए बेचैनी पैदा करने वाला है। मुझे ऐसा ही एक मौका याद आ रहा है, जब महिला दिवस के एक कार्यक्रम में मैंने इस बेचैनी को महसूस किया था। कुछ साल पहले एक विश्वविद्यालय के महिला अध्ययन विभाग में मुझे मुख्य कार्यक्रम में भाग लेने का मौका मिला था, जो मेरी आशंका के अनुरूप ही निहायत उबाऊ और थका देने वाला था। एक के बाद एक प्राध्यापक वक्ता सामने बैठे छात्राओं को याद दिला रहे थे कि हमारे देश में तो महिलाओं को देवी माना जाता है और विश्वास किया जाता है कि जहां नारी की पूजा की

जाती है, वहां देवता बसते हैं। अचानक एक कोने में कुछ फुसफुसाहट हुई और कुछ लड़कियां खड़ी हो गईं। उनमें से एक ने तमतमाते हुए जो कहा, उसका मतलब था कि उसे देवी बनकर खुद को पुजवाने में कोई दिलचस्पी नहीं है, उसे तो बस एक व्यक्ति की तरह अपने बुनियादी मानवीय अधिकार चाहिए। स्वाभाविक ही था कि सभागार में बैचैन करने वाला सन्नाटा छा गया।

ऐसा ही कुछ अनुभव पिछले कई वर्षों से पाकिस्तान में देखने को मिल रहा है। हर वर्ष औरतों के समूह अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस मनाते हैं और अपने थीम व नारों से पितृ-सत्तात्मक समाज को अवाक् कर देते हैं। उनकी समझ में ही नहीं आता कि वे शब्दों से कैसे उनका मुकाबला करें? मसलन, पिछले वर्ष उनका थीम वाक्य था, 'मेरा जिस्म मेरा हक।' टेलीविजन चैनलों पर बैठे उनके मुखालिफों की विवशता देखते ही बनती थी। दांत पीसते हुए वे गाली-गलौज पर उतर आते थे। इसी तरह, तमाम धार्मिक संगठनों को इन्हें जवाब देने का एक ही तरीका नजर आया कि वे उनके जुलूस पर लाठी-डंडा लेकर चढ़ दौड़ें। इस बार भी कुछ ऐसा ही होने की आशंका है।

एक पितृ-सत्तात्मक समाज में स्त्री के लिए थोड़ी सी जगह भी छोड़ने में पुरुष को कितनी परेशानी हो सकती है, इसे मैं अपने अनुभव से समझ सकता हूं। आज जब सेना के तीनों अंगों में लड़ाकू भूमिका में भी महिलाओं को स्वीकृति मिल गई है, तब नई पीढ़ी को अंदाज लगाने में थोड़ी मुश्किल होगी कि पहली बार पुलिस में भर्ती होने वाली महिलाओं को किन अनुभवों से गुजरना पड़ता था। 1970 के मध्य में जब मैं अपनी नौकरी की शुरुआत कर रहा था, पहली बार उत्तर प्रदेश के पुलिस-थाने में महिला पुलिसकर्मी दिखने लगी थीं। उनकी उपस्थिति कौतूहल के साथ अविश्वास भी पैदा करती थी। हालांकि, आईपीएस में इक्का-दुक्का महिलाएं आने लगी थीं, लेकिन कांस्टेबल या उप-निरीक्षक के पदों पर उन्हें तब सहज रूप से नहीं लिया जाता था। संपर्क में आने वाले आम जन को तो छोड़ें, उनके ज्यादातर सहकर्मी ही उनके सामर्थ्य या उपयोगिता को लेकर आश्वस्त नहीं थे। जिन समुदायों से वे आती थीं, वे भी पुलिस में महिलाओं के रोजगार को सम्मानजनक विकल्प के रूप में नहीं देखते थे। अध्यापन या नर्सिंग ही उनकी पहली पसंद थी।

यह भी कम रोचक नहीं था कि बहुत-सी महिला पुलिसकर्मी अपने नवजात शिशु को लेकर इयूटी पर आती थीं। स्वाभाविक ही इससे कार्यक्षेत्र में कई समस्याएं पैदा होती थीं और आम तौर से यह बात उनके खिलाफ ही जाती। बच्चे संभालती और इयूटी करती किसी महिला पुलिसकर्मी की तस्वीर आज भले ही सोशल मीडिया पर सहानुभूति और प्रशंसा बटोरती हो, उन दिनों तो उसके खाते में सिर्फ व्यंग्य और क्षोभ ही आते थे। आज जब उनको खाकी कपड़ों में देखने के हम आदी हो गए हैं और परिवारों में भी उन्हें बेहतर समर्थन हासिल है, तब उन दिनों की दिक्कतों की कल्पना करना हमारे लिए थोड़ा मुश्किल है। यह कम उत्साहजनक नहीं है कि इतने मुश्किल वक्त में भी खाकी में औरतों ने खुद को साबित किया।

पुलिस में महिलाओं की भागीदारी की यह यात्रा दूसरे किसी भी संगठन की तरह संघर्षपूर्ण तो थी ही, इसमें कुछ अतिरिक्त समस्याएं भी जुड़ी हुई थीं। पुलिस एक बल है और इसमें नेतृत्व की भूमिका में मौजूद व्यक्ति से खास तरह की अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं। एक कमांडर के आदेश पर बहुत से अधीनस्थ हरकत करते हैं। प्रारंभ में एक पुरुष प्रधान समाज में किसी महिला के आदेश पर खुद को संचालित करने की कल्पना ही पुरुष पुलिसकर्मियों को असहज-सा कर देती थी। महिला कमांडर भी अपनी भूमिका को लेकर बहुत आश्वस्त नहीं थीं, इसलिए कई बार बड़ी मनोरंजक स्थितियां पैदा हो जाती थीं। समाज में आम प्रचलित धारणा के अनुसार, एक सफल पुलिस अधिकारी को 'कड़क' होना चाहिए। कई बार महिला पुलिस अधिकारी को 'कड़क' होने के लिए अपनी देह-भाषा में कुछ ऐसे परिवर्तन करने पड़ते थे, जो अस्वाभाविक

लगते थे। अब जब उसकी नेतृत्वकारी भूमिका काफी हद तक स्वीकार कर ली गई है, सामान्यतः किसी महिला को ऐसे अनुभवों से नहीं गुजरना पड़ता है।

सारे दिमागी परिवर्तनों के बावजूद यह यात्रा आसान नहीं है। हर पड़ाव संघर्षों के बाद ही हासिल हुआ है। कई वर्षों की जद्दोजहद के बाद उच्चतम न्यायालय की मदद से औरतों ने सशस्त्र सेनाओं में स्थायी कमीशन व युद्धक भूमिका हासिल की है। हमें याद करना चाहिए कि आजादी के फौरन बाद संविधान सभा में हिंदू कोड बिल पूरी कोशिश के बाद भी डॉक्टर आंबेडकर और जवाहरलाल नेहरू पास नहीं करा सके थे। छह दशकों की लंबी लड़ाई के बाद अब इस कोड बिल का एक प्रस्ताव, जिसमें बेटी को पिता की संपत्ति में भाई के बराबर हक मिलना था, कानून की शकल ले सका। इस तरह के कई परिवर्तन हैं, जो देखने में तो छोटे लगते हैं, पर मूल्यों के स्तर पर बड़ा फर्क डाल सकते हैं, धीरे-धीरे ही सही, पर घट रहे हैं।

सबसे मुश्किल पड़ाव है, औरत को उसके शरीर पर पूरा अधिकार देना और इस दिशा में भी प्रगति हो ही रही है। यह भी स्मरण रहे कि दक्षिण एशिया में आम तौर से परिवर्तन धीमी रफ्तार से घटते हैं और पाकिस्तानी समाज में मेरा जिस्म मेरा हक जैसी थीम पर कट्टरपंथियों की प्रतिक्रिया इसी प्रवृत्ति की द्योतक है।

THE ECONOMIC TIMES

Date:08-03-22

Let the Carbon Sink In

RR Rashmi, [The writer is distinguished fellow, The Energy and Resources Institute (TERI), and former special secretary, ministry of environment, forestry and climate change, GoI]



Two contrasting trends in the India State of Forest Report (ISFR) 2021 released on January 13 stand out. One, a growth in the total forest area as a share of the country's total geographical area. Two, a decline in the area of natural forests, or quality or density of forest cover.

Another factor generally overlooked is that the carbon stock in India's forests and trees is as critical to the health of the natural ecosystem as is the area or crown cover. According to ISFR, in 2020, India has a total carbon stock of 7.2 billion tonnes in its forests and trees, growing by an average of 40 million tonnes a year. There are some

concerns about the methodology of estimation and data-gathering methods. Even if these concerns are discounted, there is a discernible mismatch between the rate of growth in forest carbon and the changes in forest area and density.

The quantum of carbon stock India should have is a commitment made in 2015 as part of the nationally determined contributions (NDCs) submitted under the Paris Agreement on Climate Change. The NDCs state that India will create by 2030 an 'additional carbon sink of 2.5-3 billion tonnes of CO₂-equivalent through additional forest and tree cover'. This roughly amounts to 1.03-1.24 billion tonnes of additional carbon stock (factor of 2.42) to be added by 2030 to reach a level of 7.7-7.9 billion tonnes.

ISFR 2011 had included, for the first time, a chapter on carbon stocks and reported the stocks in 2005 to be of the order of 6.66 billion tonnes. These have since grown to 7.2 billion tonnes in 2020. The remaining target in the next 10 years is about 0.7 billion tonnes of carbon, or about 1.7 billion tonnes CO₂-equivalent.

According to available data, India isn't close to achieving its target by 2030. Two emerging scenarios point to a difficult situation. In the first with 2005 as the baseline year chosen by GoI, the targeted carbon stock in 2030 is 7.7 billion tonnes. Even though the reported level in 2020 is 7.2 billion tonnes, the targeted level is unlikely to be reached if current trends continue. Reporting a higher soil carbon may help in showing a higher progress. Interestingly, only one-third of the total carbon stock in forests is in 'above-ground biomass', more than 55% coming from the soil carbon.

But if the terminology used in the NDC is followed, the logical baseline year is 2015, being the year of NDC submission. The language of NDC — 'additional' carbon sink through 'additional' forest and tree cover — suggests that the targeted increment in carbon stock should come from dedicated additional forest cover. In that case, the target would rise to 8.08-8.28 billion tonnes in 2030. Assuming an average growth rate of 28 million tonnes a year as recorded in previous years, stocks may reach a level of 7.5 billion tonnes in 2030. However, in both scenarios, there could be carbon stock shortfall of 0.40-0.78 billion tonnes, or 1-1.8 billion tonnes in CO₂-equivalent terms.

Effective actions to address this challenge are yet to be seen. The finance ministry had considered the financial and other requirements for achieving the NDCs, including the forestry targets. It concluded in 2020 that GoI will have to conjure up an additional land area of at least 18.54 million hectares in the least-cost scenario for meeting obligations. Finding degraded lands at that scale in a single year is nearly impossible. The alternative would be GoI having to mobilise about ₹46,000 crore a year for expanding or deepening the forest cover in about 9.13 million hectares to reach the targeted carbon sink level.

In an urgent need to find the targeted land area and establish an innovative financial mechanism, state governments and private farmers have to be co-opted. The devolution recommended by the Finance Commission to states includes grants linked to growth and maintenance of forest cover. Part of this allocation can be used for developing carbon-intensive green cover in and out of the forests. Unused corpus of funds due to compensatory afforestation can also be used to assist the states.

It is useful to raise the share of trees outside forests in green cover from 2.9% to at least 5% over the next 10 years. A renewed focus on promotion of agroforestry supported with carbon-linked minimum price for the additional tree cover could help a faster movement towards the target.



Date:08-03-22

Working women too, with a dream of good childcare

More than 95% of India's working women are informal workers, but they lack affordable services and maternity benefits

Neethi P., Antara Rai Chowdhury and Divya Ravindranath are researchers at the Indian Institute for Human Settlements, Bengaluru. Their work focuses on the broader themes of urban employment, informality and women's work.]

The theme for International Women's Day 2022 (March 8) is 'gender equality today for a sustainable tomorrow'. However, gender equality is still a far cry for India's female informal workforce. According to a 2018 study by the International Labour Organization (ILO), more than 95% of India's working women are informal workers who work in labour-intensive, low-paying, highly precarious jobs/conditions, and with no social protection.

A World Health Organization bulletin says that "women's informal work is central to the feminisation of poverty". However, we know little about how informal work affects maternal, neonatal, and child health, with the lack of childcare solutions being a serious concern. India is ahead of many advanced nations in instituting maternal health benefits, and its statutory maternity leave is among the global top three. The Maternity Benefit (Amendment) Act, 2017 more than doubled the duration of paid maternity leave for women employees to 26 weeks, proposing an option to work from home after this period, on mutual agreement with the employer, and made crèche facilities mandatory for establishments employing 50 or more women.

However, these benefits are mostly enjoyed by formal sector women workers, constituting less than 5% of the women workforce. Another ILO study, in 2016, pointed out that a lack of access to quality childcare services forces women workers to leave the labour force, ceasing their earning, and exposing themselves to discriminatory employment practices, and to significant economic and health risks.

India has paid less attention to address concerns around childcare support for informal women workers. Here are three ways to enable women to take up more productive paid work and improve their maternal and child health outcomes: extending the Integrated Child Development Services (ICDS) infrastructure; revitalising national crèche schemes, and improving maternity benefits.

Expansion of the ICDS

The primary mandate of the Anganwadi centres under the ICDS is to provide maternal and child nutritional security, a clean and safe environment, and early childhood education, thus facilitating the ability of women to re-enter work post-childbirth. However, it has two major limitations. First, it does not cater to children under the age of three. Second, it functions only for a few hours a day, making it

inconvenient to send and pick up children during work hours or avail take-home rations provided to pregnant women and households with younger children. Early intake of children in the Anganwadi centres can have dual benefits — allow mothers time for paid work and converge with the National Education Policy 2020 mandate that acknowledges quality Early Childhood Care and Education for children in the 0-6 age group. Extending the hours of Anganwadi centres can also address time constraints for working women. However, these expansions would also require expanding the care worker infrastructure, especially the Anganwadi worker and helper, who are already overburdened and underpaid.

Revitalise the crèche scheme

The National Creche Scheme lays out specific provisions for working women but has suffered diminished government funding. An inclusive approach is required to diversify worksite and working hours and overcome implementation gaps. Revitalising the provisions of the scheme and adding a network of public and workplace crèches can be hugely beneficial. Public crèches can be operated at worksite clusters such as near industrial areas, markets, dense low-income residential areas, and labour nakas. Crèches closer to the workplace allow for timely breastfeeding and attending to emergencies. This model has been tested successfully by Self-Employed Women's Association (SEWA) Sangini in some Indian cities. Where work occurs at a single site, such as a garment factory or construction site, worksite crèches will help; as seen in the construction site crèches run by Aajeevika Bureau (Ahmedabad) and Mobile Creches (Delhi). The construction sector is a case in point where the Building and Other Construction Workers Welfare Board mandates the running of crèches. The funds collected under the construction cess can be earmarked for running crèches at construction sites.

Some benefits

Childbirth and childcare are financially stressful and compel many women to return to work within a few weeks of childbirth. Women in informal employment did not have maternity benefits until the National Food Security Act (NFSA), 2013, entitled pregnant and lactating mothers to a cash transfer of at least ₹6,000. However, the scheme notified for this purpose, the Pradhan Mantri Matru Vandana Yojana (PMMVY) limits the benefit to the first birth and has also reduced the amount to ₹5,000.

States such as Tamil Nadu (Dr. Muthulakshmi Maternity Benefit Scheme), Rajasthan (Indira Gandhi Maternity Nutrition Scheme), Odisha (Mamta Scheme), Gujarat (Kasturba Poshan Sahay Yojana), and Chhattisgarh (Kaushalya Maternity Scheme) try to bridge the coverage gap, incentivising health-seeking behaviours. Of these, Tamil Nadu has an expansive and ambitious scheme offering ₹18,000 in cash and kind for two live births. Right to Food (demands that universal and unconditional maternity entitlements of at least six months of the minimum wages for pregnant women and lactating mothers be implemented.

The cash transfers under the PMMVY are insufficient, by both evaluations on the ground and the NFSA benchmark, as well as for nutrition needs and wage compensation. The compensation, which is lower than the minimum wages, is inadequate in postponing the mother's return to work for the first six months. The amount also does not match an inflation-adjusted NFSA benchmark (nearly ₹9,400 in 2022).

The lack of affordable and quality childcare services and maternity benefits increase the burden on informal women workers, aggravating gender and class inequalities. Presently, it is up to individuals and families to find a resolution to this tension of a worker-mother, putting women, girls, and children at a

gross disadvantage. It is imperative that we consider affordable and quality childcare infrastructure as an employment-linked benefit and as a public good.

Date:08-03-22

Reaping the potential of the female workforce

Fresh employment opportunities have opened up for women in the gig, platform and care economy

K. Rajeswara Rao is Special Secretary, NITI Aayog, and Sakshi Khurana is Consultant, Skill Development, Labour and Employment at NITI Aayog.



The large-scale adoption of digital and smartphone technologies and the increased need for personal care for the sick, elderly and children have opened up employment opportunities, especially for women. Why is that? The gig and platform economy offers flexibility and freelancing jobs. Those engaged in providing health and personal care have always been an integral part of the economy and have been on the front lines during the pandemic. Women form a very large proportion of this segment. The COVID-19 pandemic has further augmented the need for health and personal care, thus opening up more employment opportunities.

What we need are concerted efforts and targeted strategies along with a change in attitudes, for women to take advantage of these new labour market opportunities. Access to higher education, skill training and digital technology are the three great enablers in helping India reap the potential of its female labour force.

India's demographic dividend

The participation of women in the workforce in India has remained low. In 2019, 21% of women were either working or looking for work, compared to 32% in 2005. India's female labour force participation (FLFP) rate is the lowest among the BRICS countries and is also lower than some of its neighbours in South Asia such as Sri Lanka and Bangladesh. Increasing FLFP in India is crucial not just to achieve economic growth but also to promote inclusive growth and achieve the Sustainable Development Goals.

India's population is among the youngest in the world. In 2020, the median age in India was about 29. Women and girls form a significant part of India's demographic dividend. However, their inability to stay employed or, at times, take up employment due to economic and social factors at both the household and

macro level has been a challenge for the labour market and economy. Countries like China, Singapore, Taiwan and South Korean are examples of how the demographic dividend can be reaped to achieve fast-paced economic growth.

Sectors with potential

According to United Nations Women estimates, women make up a significant proportion of all healthcare workers and more than 80% of nurses and midwives. Women also form a significant proportion of the workforce in the education sector in India, especially in primary education and early childhood care. The care service sector, which includes health, education, and other personal care services, is more labour-intensive than sectors such as manufacturing, construction or other service sectors where the employment potential gets affected due to factors such as the introduction of tools, technology and increased mechanisation.

Not only would greater investment in better health and care facilities improve the well-being of India's people and hence their economic productivity, global evidence documented by the International Labour Organization (ILO) also suggests that it will lead to more employment opportunities for women. The ILO Report on Care work and Care Jobs for the Future of Decent Work: Key findings in Asia and the Pacific (2018) indicated that increasing investment in the care economy has the potential to generate a total of 69 million jobs in India by 2030. Investments in the health and care sector can go a long way in boosting India's economy. Investments to set up child care services through collaborative models in office complexes and with industry associations in industrial corridors are important. Such initiatives can significantly support women in managing their care responsibilities, enabling them to devote sufficient time to paid employment.

The gig economy comprises platforms that offer innovative solutions in different sectors such as transport, retail, personal and home care. India has emerged as one of the largest countries for gig and platform work. Digital platforms in India have thrived as a result of the increasing use of smartphones, the low cost of Internet and other initiatives under the Digital India campaign. The gig economy has demonstrated resilience even during the pandemic, with platform workers playing an indispensable role in urban India. Platform jobs have low-entry barriers and cater to the needs and aspirations of workers with varying degrees of skill sets. Studies indicate that women appreciate the income-generating potential of the gig economy. The ILO Global Survey (2021) noted that working from home or job flexibility are particularly important for women.

Digital platforms that allow remote work are, in principle, accessible to men and women in any location. However, access to the Internet and smartphones can be a restricting factor. Data suggest that in India, women's access to the Internet and to smartphones is much lower than that of men. According to the GSMA Mobile Gender Gap Report, only 25% of women owned smartphones compared to 41% of men in India in 2020. Closing this gap can be significant in giving boosting women's employment in the gig and platform sector.

Policies and measures

Women and girls' access to higher education (beyond secondary education) and skill training is critical to improve their employment outcomes. Women and their families need to be motivated to take up higher education through incentives such as scholarships as well as transport and hostel facilities.

Enabling women to acquire both physical assets (through credit facilities, revolving funds, etc.) and employable skills is crucial for them to take up employment opportunities in new and emerging sectors. Skill training of women in job roles aligned to the gig, platform and care sectors as well as other emerging sectors such as those covered under the Production-Linked Incentive Scheme needs to be encouraged.

Online skill training can also be beneficial to women who face constraints in physical mobility due to social norms, domestic responsibilities or concerns over safety. We need training programmes with well-defined outcomes for women's digital access and to mentor them to take up employment opportunities in emerging sectors.

Under cooperative federalism, for India to reap the potential of its FLFP, constant dialogue and engagement with the States on action strategies will be required. Inter-ministerial coordination is required. Governments, skill training partners, private firms, corporates and industry associations as well as civil society organisations all need to come together to create enabling measures for women. Policies supporting the expansion of care services along with gig and platform sectors can serve as an effective strategy to strengthen aggregate demand, while simultaneously improving long-term economic growth, gender equality and societal well-being.

Date:08-03-22

Is a more humane society possible?

Our adaptive capabilities for a more humane civilisation are hamstrung by the need to survive on the surplus ladder

Ratna Naidu is a sociologist. This piece was enabled by conversations with Vinod Nair on the biology of the mind and brain anatomy

When one looks at the literature on social change, two paradigms seem to have dominated the social sciences: the Marxian pre-occupation with the dynamics of surplus generated by unequal positions in the societal process and Charles Darwin and Gregor Mendel's momentous findings on evolution.

Both these processes, namely, the generation of surplus and evolution, are autonomous, inevitable and continual. The notion of surplus value, initially conceptualised as surplus earned by the capitalist from wage labour, is now generalised to land-use changes, technology, economics, politics, geopolitics, weaponisation of trade, derivatives, etc. — the entire gamut of social change. Implications of the surplus generated impact even fashion and culture. Surplus, those at the top of the surplus ladder, and the uses of surplus determine social change.

As for the theory of evolution, the selective effect of adaptive capability, there are many variants depending upon discipline focus, as also intra-discipline focus and choice of problems for research. I had minimum or no knowledge of biological processes in my early days as a sociologist. Having entered the sociology discipline with post-graduate learning in economics, my interest in macro development problems led me to Talcott Parsons' action theory, also based on a variant of the theory of evolution but with many limitations. One of the more important limitations is with regard to the conceptualisation of

'functional imperatives' in the evolutionary process. We know now that there are different, and often unknown, ways of coping with the functional problems of an organism.

Prescient thinking

In the early 20th century, another variant of the theory of evolution and explanation of social change began to emanate from the University of Chicago. This is more relevant in the context of the enormous research and everyday findings of the mapping of the anatomy of the brain and transmissions from neurons, which are currently being researched. George Herbert Mead's *Mind, Self and Society* foresaw this knowledge system in the early 1900s. The story of evolution of behaviour guided by instinct evolved to communication through gestures to symbolic interaction and now to a digital world. But Mead's conceptualisation of the "self" as "I", the subject, and as "me", an object to the subject, was prescient thinking in 1934. The mind evolves through conversation between the "I" and the "me" and social change takes place through evolution of that conversation. Further, Mead foretold that "I" is unique and unpredictable in response. Today, we are told that every person has not only unique fingerprints but also unique brain anatomy. Based on their research at the University of Zurich, Professor Lutz Jäncke and his group have found that life experiences change the anatomy of the brain. A combination of genetic factors and life experience result in unique brain anatomy for each individual. Conflicting/competing signals from the region of the brain — memory, instinct, technical knowledge, tradition, emotion and even mere absent-mindedness — result in action which cannot be predicted. Mead spoke of the social system as a game, where everyone knows the rules but no one can predict how the game will be played. It is not possible to predict which signal or combination of signals from the mind will win and set the course for societal change. It is the cybernetic system of communication with control and feedback with the addition of free will. The organism has a mind of its own.

Besides bringing in the factor of unpredictability (which brings all attempts for general theory of social change such as E.O. Wilson's Sociobiology or Parsons' and other action theories to a brick wall), Mead made one more basic contribution to our understanding of social evolution. His framework for the evolving organism does not interact merely with other organisms, but also the object world (which was denied by Parsons et al.). Observation of the environment and the physical world is also a psychic event: the sun and the stars, the shadows and darkness in the branches of the trees, the architectural landscape and now the change from the rainbow to only saffron hues which are changing the mindset of India. It would seem that humanity has to decide what to do with the surplus generated by continuous capitalisation and the evolutionary history of trauma of past experiences embedded in the brain anatomies which burden individuals. The adaptive capabilities of communities and society to a more humane civilisation is hamstrung by the need to compete to survive on the surplus ladder and also wipe off the pathology of pain from the memory neurons. Indeed, both are difficult endeavors.
